श्री श्रीरंजन सूरिदेव
बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना

दक्षिण भारत में जैनधर्म

[प्रस्तुत निबंध में लेखक ने आ० भद्रबाहु के सम्बंध में मागधीय दुष्काल के कारण दक्षिण गमन का जो उल्लेख किया वह दि० जैन मान्यतानुसार है. जबकि श्वे० परंपरा का अभिमन्तव्य है कि आचार्य श्री द्वादशवर्षीय दुष्कालनिवारणार्थ दक्षिण की ओर प्रस्थान कर नैपाल में आध्यात्मिक साधना करने में तल्लीन रहे.—सम्पादक]

आदि तीर्थंकर ऋषभदेव द्वारा जैनधर्म का प्रचार दक्षिण-भारत में हुआ, ऐसा पौराणिक जैन इतिहास के अध्ययन से पता चलता है. जैनशाखा के प्रमुख दो भेद सर्वविदित हैं—श्वेताम्बर और दिगम्बर. तमिल के 'रत्नाकरशतक'[1] आदि प्राचीन काव्यों से स्पष्ट है कि उनके रचना-काल में, दक्षिण-भारत में, दिगम्बर जैनधर्म ही प्रचलित था. अर्वाचीन जैन आम्नाय का यह मत है कि सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य के गुरु श्रुतकेवली भद्रबाहु के साथ ही जैनधर्म का प्रवेश दक्षिण-भारत में हुआ. परन्तु, जैनों की पारम्पर्य मान्यता यह है कि उत्तर-भारत के जैनसंघ की तरह दक्षिण-भारतीय जैनसंघ भी प्राचीनतम है. यही कारण था कि उत्तर में सुप्रसिद्ध द्वादशवर्षव्यापी घोर अकाल पड़ने पर धर्मरक्षा के खयाल से भद्रबाहु स्वामी अपने संघ के साथ दक्षिण-भारत गये थे. उनका ही संघ ज्ञात रूप में दक्षिण का पहला दिगम्बर जैनसंघ था, ऐसा कहा जाता है.

कुछ भारतीयेतर विद्वान् डॉ० हार्नले आदि का कथन है कि अकाल पड़ने पर शाखाभेदरहित जैनसंघ के प्रधान स्थविर भद्रबाहु अपने जिस संघ के साथ मगध से कर्णाटक गये, उसका रूप दिगम्बर ही रह गया और मगध के अवशिष्ट जैन सदस्य, जिसके प्रधान स्थविर स्थूलभद्र थे, श्वेताम्बर कहलाये, श्वेताम्बर श्वेत परिधान के प्रेमी थे और दिगम्बरों के लिये दिशाएँ ही वसन थीं. मगध में पुनः शान्ति की स्थापना के बाद जैनसंघ जब कर्णाटक से मगध लौटा, तब उसने मगध के जैनसंघ से संबंधविच्छेद कर अपना अलग सिद्धान्त चलाया.[2]

अस्तुः, दक्षिण का यह दिगम्बर जैनसंघ द्राविड़ों के बीच बहु आदृत था. कुछ विद्वान् यह मानते हैं कि द्राविड़ लोग प्रायः नागजाति के वंशज थे. जिस समय नागराजाओं का शासन दक्षिण-भारत में था, उस समय नाग लोगों के बहुत से रीति-रिवाज और संस्कार द्राविड़ों में भी प्रचलित हो गये थे. नागपूजा उनमें बहुत प्रचलित थी. जैनतीर्थंकरों में दो सुपार्श्वनाथ और पार्श्वनाथ की मूर्त्तियाँ नाग-मूर्त्तियों के सदृश थीं. जैनों की सहज सरल पूजा-प्रणाली को भी द्राविड़ों ने आसानी से अपना लिया.

इतना तो स्पष्ट है कि दक्षिण-भारत में दिगम्बर जैनधर्म की जनसमुदाय में विशेष मान्यता थी; परन्तु दिगम्बर-सिद्धान्त की बहुलता के बावजूद दक्षिण-भारत में श्वेताम्बरों की भी पहुँच हुई थी. श्वेताम्बरीय शास्त्रों से प्रकट है कि कालकाचार्य[3] पैठन के राजा के गुरु थे. फलतः, स्पष्ट है कि श्वेताम्बर जैन आन्ध्र-देश तक पहुँचे थे. इसके बाद ईसवी-पूर्व दूसरी शती में श्वेताम्बरों के गुरु पादलिप्ताचार्य मलखेड़ तक गये थे, परन्तु उन्होंने अपने धर्म के प्रचार में कहाँ-

---

१. 'रत्नाकरशतक' तथा उसके कर्त्ता कवि रत्नाकर के सम्बन्ध में देखिए मेरा लेख ; मासिक 'संतवाणी' (पटना), वर्ष ३, अंक ७, सित० १९५८ ई०.

२. इस संबंध में विशेष विवरण के लिए देखिए मेरा लेख; 'उपासक दशासूत्र : एक अध्ययन' त्रैमा० 'साहित्य' (पटना), वर्ष १, अंक ३.

३. कालकाचार्य के संबंध में विशेष विवृति के लिए श्रीमेरुतुंगाचार्यकृत 'प्रबन्धचिन्तामणि'.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तक सफलता प्राप्त की, ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता. तत्स्थानीय पाँचवीं शती के एक ताम्रलेख में पहले-पहल श्वेताम्बर जैनसंघ का उल्लेख भी प्राप्त होता है.

श्रीभद्रबाहु श्रुतकेवली के बहुप्रसिद्ध संघ के उपरान्त शास्त्रों में दक्षिण-भारत के उस दिगम्बर जैनसंघ का पता चलता है, जो श्रीधरसेनाचार्यजी के समय में महिमानगरी में सम्मिलित हुआ था. यह नगरी वर्त्तमान सतारा जिले का 'महिमानगढ़' प्रतीत होता है.

जैनसंघ के अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर वर्द्धमान और गणधर गौतमस्वामी के उपरान्त कुन्दकुन्दाचार्य को स्मरण करने की परिपाटी प्रचलित है. शिलालेखों में इनका नाम कोण्डकुन्द लिखा मिलता है. इस शब्द का मूल उद्गम द्राविड़-भाषा से है, उसीका श्रुतिमधुर संस्कृत रूप कुन्दकुन्द प्रथित हुआ है. कहा जाता है कि इनका यथार्थ नाम पद्मनन्दि था, परन्तु ये कुन्दकुन्द, वक्रग्रीव, एलाचार्य और गृध्रपिच्छ नामों से भी प्रसिद्ध थे. ये कुण्डकुन्द नामक स्थान के अधिवासी थे, इसीलिए ये कोण्डकुन्दाचार्य नाम से प्रसिद्ध हुए थे. इन्होंने अनेक ग्रन्थों की प्राकृत में तथा तमिल में भी रचना की और जैनधर्म के जागरण का विजय-शंख ध्वनित किया.

तमिल के अपूर्व नीतिग्रन्थ 'कुरल' के विषय में भी कहा जाता है कि यह श्रीकुन्दकुन्दाचार्य की रचना है. तमिलवासी इस ग्रन्थ को अपना वेद मानते हैं. कुरल में कुल ८० परिच्छेद हैं. पूरा ग्रन्थ उपदेशों और नीतिवाक्यों के साथ ही तीर्थंकरों की गुणगाथाओं और गौरव-गरिमा से परिपूरित है.

कुन्दकुन्दाचार्य के बाद दक्षिणा जैनसंघ में भगवान् उमास्वामी या उमास्वाति (ई० प्रथम शती) के अस्तित्व का पता चलता है. कुन्दकुन्दाचार्य की तरह उनकी भी मान्यता श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों में है. दिगम्बर जैनसाहित्य के अनुसार उमास्वाति कुन्दकुन्दाचार्य के वंशज थे एवं उनका दूसरा नाम गृध्रपिच्छाचार्य था. श्वेताम्बरीय प्रसिद्ध ग्रन्थ 'तत्वार्थाधिगमसूत्र' के भाष्य में उमास्वाति के विषय में जो प्रशस्ति मिलती है, उससे विदित होता है कि उनका जन्म 'न्यग्रोधिका' नामक स्थान में हुआ था. इनके पिता स्वाति और माता वात्सी थीं. इनका गोत्र कौभीषणि था. इनके दीक्षागुरु श्रमण घोषनन्दि और विद्यागुरु वाचकाचार्य मूल थे. इन्होंने कुसुमपुर (पटना) नामक स्थान में अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ तत्वार्थाधिगमसूत्र रचा था. दोनों ही—श्वेताम्बर-दिगम्बर—सम्प्रदायों में ये 'वाचक' की पदवी से अभिहित थे. श्वेताम्बरों की मान्यता के अनुसार इन्होंने पांच सौ ग्रन्थ रचे थे. ये संभवतः पहली शती के प्रसिद्ध दार्शनिक जैनविद्वान् थे.

उमास्वाति के पश्चात् श्रीसमन्तभद्रस्वामी का नाम जैनधर्म के अग्रदूत के रूप में लिया जाता है. इन्होंने दक्षिण-भारत के कदम्ब-वंश को सुशोभित किया था. इनके पिता फणिमण्डलान्तर्गत उरगपुर के क्षत्रिय राजा थे. स्वामी समन्तभद्र का बाल्यकाल जैनधर्म के केन्द्रस्थान—उरगपुर में व्यतीत हुआ था. इन्होंने अपने-आपको धर्मार्थ अर्पण कर दिया था.

श्रीसमन्तभद्रस्वामी जैनसिद्धान्त के मर्मज्ञ होने के अलावा तर्क, व्याकरण, छन्द, अलंकार, काव्य, कोश आदि ग्रन्थों में पूर्णतः निष्णात थे. ये विविध देश-पर्यटक भी थे. निम्नलिखित श्लोक से पता चलता है कि ये देश-पर्यटन के सिलसिले में धर्मप्रचारार्थ एवं शास्त्रार्थ के हेतु पाटलिपुत्र [पटना][1] पधारे थे. श्लोक इस प्रकार है :

पूर्वं पाटलिपुत्रमध्यनगरे भेरी मया ताडिता,
पश्चान्मालवसिन्धुटक्क[2] विषये कांचीपुरीवैदिशे ।
प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं सङ्कटं,
वादार्थी विचराम्यहं नरपते ! शार्दूलविक्रीडितम् ।

---

१. श्री डी० जी० महाजन के मतानुसार यह पाटलिपुत्र मगध का सुप्रसिद्ध पाटनगर (पटना) न होकर दक्षिण भारत का पाटलिपुत्र भी हो सकता है जैसा कि वर्णी अभिनन्दन ग्रंथ पृ० ३१९-३२२ से विदित होता है. —सम्पादक

२. टक्क (पंजाब)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार, शास्त्रार्थ की विजय-दुन्दुभी निनादित करते हुए स्वामी समन्तभद्र ने करहाटक (सतारा) नगर पहुँचकर वहाँ के राजा को शास्त्रार्थ के लिये ललकारा था.

स्वामी समन्तभद्र के रचे ग्रन्थों में—आप्तमीमांसा, युक्त्यनुशासन, स्वयम्भूस्तोत्र, रत्नकरण्डक उपासकाध्ययन, प्राकृत-व्याकरण, गन्धहस्तिमहाभाष्य आदि प्रमुख हैं. कहना न होगा कि इन वरेण्य आचार्यों ने दक्षिण-भारत में जैनधर्म का अमर प्रचार किया और जन-जन को, जैनधर्म के माध्यम से, जनधर्म का परिचय देकर उनके जीवन को सफल किया. इसमें कोई संदेह नहीं कि जैनशास्त्रानुसार उत्तर-भारत की भाँति दक्षिण-भारत के देशों में भी सर्वप्रथम भगवान् ऋषभदेव द्वारा ही सभ्यता और संस्कृति का प्रचार हुआ. जब ऋषभदेव समूचे देश की धर्म-व्यवस्था करने लगे, तब इन्द्र ने सारे देश को निम्नलिखित ५२ प्रदेशों में विभक्त किया.

सुकोसल, अवन्ती, पुण्ड्र, उण्ड्र, अश्मक, रम्यक, कुरु, काशी, कलिंग, अंग, बंग, सुह्म, समद्रक, कश्मीर, उशीनर आनर्त्त, वत्स, पंचाल, मालव, दशार्ण, कच्छ, मगध, विदर्भ, कुरुजांगल, करहाट, महाराष्ट्र, सुराष्ट्र, आभीर, कोंकण, वनवास, आन्ध्र, कर्णाट, कोसल, चोल, केरल, दारु, अभिसार, सौवीर, शूरसेन, अपरान्त, विदेह, सिन्धु, गान्धार, यवन, चेदि, पल्लव, काम्बोज, आरट्ठ, वाह्लीक, तुरुष्क, शक और केकय.—(आदिपुराण, पर्व १६)

उक्त प्रदेशों में अश्मक, रम्यक, करहाट, महाराष्ट्र, आभीर, कोंकण, वनवास, आन्ध्र. कर्णाट, चोल, केरल आदि देश दक्षिण-भारत में मिलते हैं. इससे स्पष्ट है कि भगवान् ऋषभदेव द्वारा इन देशों का अस्तित्व-निर्धारण और संस्कृति-परिमार्जन हुआ था. कहना न होगा कि दक्षिण-भारत में जैनधर्म का ऐतिहासिक आरम्भ कर्मभूमि के आदिकाल से ही हुआ, जो काल की दृष्टि से पौराणिक तथा ऐतिहासिक इन दो रूपों में लिपिबद्ध किया गया.

कुछ विद्वानों की कल्पना है कि भगवान् ऋषभदेव के द्वितीय पुत्र सम्राट् बाहुबली ही दक्षिण-भारत के सर्वाग्रणी धर्म-प्रवर्तक थे. वह भी इस अनुमान पर कि बाहुबली के शासन-क्षेत्र अश्मक, रम्यक तथा पोदनपुर दक्षिण-भारत में ही अवस्थित थे. हालाँकि, पोदनपुर के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद है. पोदनपुर किसी के मत में तक्षशिला है, और किसी के मत में दक्षिणपथ-स्थित प्रदेश विशेष.

आधुनिक सुधी शोधकों के मतानुसार दक्षिण-भारत में जैनधर्म का प्रवेश अत्यन्त प्राचीनकालीन नहीं, वरन् मौर्यकालीन है. उनका कहना है कि सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य के गुरु श्रुतकेवली भद्रबाहु ने जब उत्तर भारत में भीषण अकाल की सम्भावना देखी, तब वे संघ-सहित दक्षिण भारत चले गये और उन्होंने ही वहाँ की जनता को जैनधर्म से परिचित कराया. ऐतिहासिक दृष्टि से प्राच्य और पाश्चात्य इतिहासविदों का इस विषय में ऐकमत्य है, होना भी चाहिए; क्योंकि परम्परा के आधार पर धर्म का मूल्यांकन निर्भ्रम नहीं हो सकता.

परम्परावादी जैनों के विचार से यह बहुप्रचलित है कि दक्षिण-भारत में, खासकर वहाँ के प्राचीन तमिल (आन्ध्र)—राज्य में वैदिक और बौद्धधर्म के अतिरिक्त जैनधर्म भी प्राचीनकाल से प्रचलित था. सन् १३८ ई० में वहाँ अलेक्जेण्ड्रिया के 'पेण्टेनस' नाम का एक ईसाई पादरी आया था. उसने लिखा है कि वहाँ उसने श्रमण (जैन साधु), ब्राह्मण और बौद्ध गुरुओं को देखा था, जिनको भारतवासी बड़ी श्रद्धा से पूजते थे; क्योंकि उक्त गुरुओं का जीवन बड़ा ही पवित्र था.

तमिल के 'संगम' ग्रन्थों—'मणिमेखलै', 'शीलप्पधिकारम्' आदि—से पता चलता है कि जैन साधुओं का प्राचीन नाम 'श्रमण' था, किन्तु कालक्रम से बौद्धों ने भी इस शब्द को अपना लिया. किन्तु, दक्षिण-भारत के साहित्य-ग्रन्थों और शिला-लेखों में सर्वत्र 'श्रमण' शब्द का प्रयोग जैनों के लिए ही हुआ है. इससे यह भी अप्रच्छन्न है कि श्रमणोपासकों की संख्या वहाँ प्राचीन काल में अत्यधिक थी.

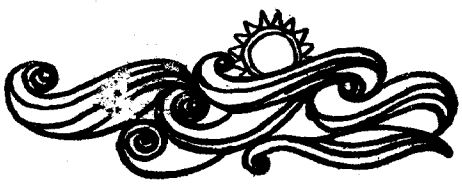

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org